''भारतीय संस्कृति में परिव्राजक परम्परा''

डॉ0 संजय कुमार सिंह
एसोसिएट प्रोफेसर, इतिहास विभाग,
एम.एम.एच. कॉलेज, गाजियाबाद

वीरेन्द्र कुमार
शोध छात्र, इतिहास विभाग,
एम.एम.एच.कॉलेज, गाजियाबाद
Email: kumarviren1986@gmail.com

सारांश

विश्व की प्राचीन सभ्यताओं मिस्र, मेसोपोटामिया आदि में पुरोहित परम्परा का विकास परिलक्षित होता है। ये पुरोहित सम्पूर्ण समाज के संचालक थे। इनमें अधिकांश पुरोहित परिव्राजक के अर्थ में लोकहितेषी अवश्य रहे हों, पर सर्वत्यागी सन्यासी की भांति जीवनयापन करने की परम्परा के प्रमाण नहीं प्राप्त होते। निःसन्देह तुर्की से अफगानिस्तान तक की मरूभूमि और निर्जन स्थानों में उस समय भी गृहत्यागी परिव्राजक घुमते थे। भारत वर्ष की मूल सांस्कृतिक धारा भी दो ही रही–परिव्राजक तथा ब्राह्मण। इनमें कौन अधिक प्राचीन है, यह कह पाना कठिन है। फिर भी इतना सुनिश्चित है कि सुदूर अतीत में जब से भारतीय संस्कृति का इतिहास मिलना आरम्भ होता हैं ये दोनों ही धाराऐं प्रवाहमान प्रतीत होती हैं।

मुख्य शब्द– परिव्राजक, जातक, ब्रह्मचारी, वैराग्य, श्रमण, निवृत्ति, आत्मसंयम

प्रस्तावना

''परिव्राजक'' जिसका शाब्दिक अर्थ होता है–भ्रमणशली या चारों और विचरण करने वाला व्यक्ति। यह शब्द ऐसे व्यक्तियों के लिये प्रयुक्त किया जाता है जो अपना सब कुछ त्यागकर सामाजिक बंधनों से विरत होते है। ध्यान, शिक्षण तथा शास्त्र चिन्तन में ही ये अपना जीवन व्यतीत करते हैं। हालांकि वैदिक परम्परा के अनुसार ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ इन तीनों आश्रमों में अपना कत्वर्य पूरा कर जीवन की अन्तिम अवस्था अर्थात वानप्रस्थ आश्रम में ही परिव्राजक बनने की परम्परा का उल्लेख किया गया है परन्तु जिसके अन्दर पहले से ही वैराग्य की भावना उत्पन्न ही हो जाऐ वह इसके लिये स्वतंत्र है।[1]

परिप्राजक एक ऐसा विरक्त व्यक्ति है जो सत्य और झूठ, सुख और दुख, वेद, लोक और परलोक का त्याग करके आत्मा की जिज्ञासा को शान्त करते हुए परम तत्व की अनुभूति में आनन्द की प्राप्ति करते हैं। इनका अन्तिम उद्देश्य परम तत्व में विलीन हो जाना है।[2] जातक कथाओं से निष्कर्ष निकाला जाता है कि ये परिव्राजक मूलतः ज्ञानवादी ब्रह्मचारी होते हैं जो किन्ही कारणों या कष्टों से सांसारिक मनोद्वेग के वशीभूत विरक्त होकर विचरणशील सन्यासी हो जाते हैं।[3]

भारतीय संस्कृति की विचारधारा सदैव से ही चिन्तन प्रधान रही है। इसी चिन्तन में

निवृत्ति मार्ग की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। इस संस्कृति के विभिन्न पक्षों का ज्ञान उसके भौतिक पक्षों के आधार पर होता है क्योंकि इसकी लिपि को अभी पढ़ा नहीं जा सकता है। परन्तु यहाँ से प्राप्त मोहरों पर योगासन मुद्रा में बैठे मानव आकृति से इस बात का संकेत मिलता है कि यहाँ के लोग तप या योग से परिचित थे। सांसारिक मोह, आत्मज्ञान, असत–सत इत्यादि की अनुभूति चिन्तन की पृष्ठभूमि पर वैराग्य, व्रत, तप से ही सम्भव है। ऋषि, मुनि, सन्यासी, श्रमण, भिक्षु, निवृतिमार्गीयों की ही उपाधियाँ हैं। ऋषि दृष्टा हैं, ऋषि मूलतः देवों के लिये सुक्तों के रचियता हैं। यह उक्ति प्रसिद्ध है कि–ऋषियों मन्त्र दृष्टारः' अर्थात ऋषि मन्त्रदृष्टा है।[4]

ऋग्वैदिक काल के अन्तिम चरण में तपस की भावना ने जोर पकड़ा। इस भावना में अर्न्तनिहित था शारीरिक कष्ट सहन के साथ ध्यान। इसके अनेक रूप थे, अर्थात एक ही आसन में महिनों या वर्षों पड़े रहना। गर्मी में धूप या जाड़े ठण्ड में खड़े रहना, कीलो की शय्या पर सोना इत्यादि।[5]

छठी शताब्दी ई0पू0 के जीवन में सबसे महत्वपूर्ण तथ्य परिव्राजको का अभ्युदय और प्रभाव था। जैन, बौद्ध और ब्रह्मण ग्रंथों में कितने ही प्राचीनतम भिक्षु सम्प्रदायों के नाम है। ब्रह्मजाल सुत्र में बौद्ध धर्म के उदय से पूर्व श्रमणो और ब्राह्मणों के 62 मतो का उल्लेख है।[6] बुद्ध और महावीर के युग में निवृति मार्गी परिव्राजकों में यौगिक साधना के व्यापक प्रचलन का विस्तार परिलक्षित होता है। यद्यपि वैदिक संस्कृति अपने प्रथम चरण में प्राकृतिक देववादी और दुसरे चरण में यज्ञ प्रधान प्रवृतिमार्गी संस्कृति थी। तथापि वैदिक साहित्य में यत्र–तत्र तपस, मुनि, यति व्रात्य, श्रमण, मुण्डक भिक्षु जैसे शब्दों का प्रयोग हुआ है। जो इस युग में निवृत्ति मार्गी आदर्शों के प्रचलन की ओर संकेत करते हैं।

श्रमणों की प्राचीन परम्परा में तप को विशेष महत्व दिया गया है। इसका लक्ष्य अलौकिक शक्ति प्राप्त करना था। जैसे ही एक तपोधन आत्मसंयम के मार्ग में प्रगतिशील होने लगा वह साधारण मनुष्य की अपेक्षा कहीं अधिक शक्ति अर्जित कर लेता। वह भूत, भविष्य, और वर्तमान का दृष्टा हो जाता है तथा अपनी तपस्यार्जित अलौकिक शक्ति से वह अद्भूत कार्य कर सकता।[7]

जहाँ तपस क्रियाऐं अपना विस्तृत स्थान बना रहीं थीं वहीं दुसरी ओर चिंतक समाज में यह विश्वास भी जोर पकड़ रहा था कि आनन्द और मुक्ति केवल सत्य ज्ञान से ही सम्भव है। अतः चिन्तनशील लोगों ने यज्ञ कर्मकाण्डों और तपस की पूर्णतः उपेक्षा तो नहीं की किन्तु उसे विशेष महत्व भी नहीं दिया। उन्होंने इस मत का प्रतिपादन किया कि–''जो ब्रह्म को जानता है, वह ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है।''[8]

उत्तरवैदिक काल में प्रतिकात्मक और रहस्यमय विधाओं तथा उपासनाओं के आविर्भाव के साथ अरण्य जीवन का प्रचार हुआ और एक तीसरे आश्रम का आदर्श विकसित हुआ। जिसमें पहले दोनों आश्रमों का तथा कर्म और विधा का समन्वय था। साथ ही साथ श्रमणों के सिद्धान्त और दृष्टांत से कुछ वैदिक ऋषि और विचारक प्रभावित हुए और परिणामतः उपनिषदों में कहीं–कहीं वैदिक कर्म की अवहेलना तथा सन्यासियों की स्तुति पायी गयी।[9]

भारतीय समाज में मत विभिन्नता और विचारों का अन्तर सदा से रहा जिसका मुख्य कारण यहाँ के लोगों की स्वतंत्र और मौलिक चिन्तन प्रणाली हैं। बौद्ध एवं जैन साहित्य से यह स्पष्ट है कि छठी शताब्दी ई0पू0 के युग में श्रमण आन्दोलन जितना व्यापक था, वैचारिक स्तर पर उतना ही विविध भी। यद्यपि उत्तरकालीन इतिहास में उनमें से कुछ ही महत्व के धर्मों के रूप में विकसित हुए। तत्कालीन प्रचलित विचारधाराओं का सूक्ष्म अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस युग में बुद्धिवाद का प्रचुर विकास हुआ।

पुरातात्विक और साहित्यिक स्त्रोतों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि नवीन धार्मिक आन्दोलन के उदय के सूत्र लोगों के भौतिक जीवन में आयें परिवर्तन से जुड़े थे। गंगा के मैदान के मध्यवर्ती क्षेत्रों में औसत 114 और 140 सेंटीमीटर के बीच सालाना बारिश होती रही और यह क्षेत्र घने जंगलों से भरा था। उत्तर वैदिक काल में यज्ञ प्रधान वैदिक धर्म अपने मूल कुरू–पंचाल प्रदेश से उत्तर पूर्व की ओर फैलने लगा। यह मात्र धर्म का प्रसार न होकर एक नई उत्पादन तकनीक का प्रसार तथा विकास था। शतपथ ब्रह्मण में यह उल्लेख है अग्नि के माध्यम से जंगल को जलाकर वैदिक लोग आगे बढ़े। यह वस्तुतः जंगल जलाकर ओर पेड़ों को काटकर भूमि को कृषि योग्य बनाने की प्रक्रिया थी। जिसमें लोहे के प्रयोग ने मुख्य भूमिका निभाई। वैदिक तथा अवैदिक दोनों ही परम्पराओं में गाय और बैलों को मारने का विधान था, जबकि हल से खेती की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अब इनकी सुरक्षा आवश्यक थी।[10]

यह भी प्रासंगिक है कि नगर परिवेश और प्राचीन जनजातीय परिवार के टुटने से परित्यक्त स्त्रियों के एक वर्ग का जन्म हुआ जिन्होंने भरण–पोषण के साधन के रूप में वेश्यावृत्ति को अपना लिया।[11] बौद्ध पालि ग्रन्थ नगरों में रहने वाली वेश्याओं की चर्चा करते हैं जिसमें उल्लेखनीय है कि वैशाली नगर की आम्रपाली जो अपने संरक्षकों से एक रात के पचास कहापण लेती थी। ब्राह्मण विधिवेत्ताओं द्वारा वेश्यावृत्ति की भर्त्सना की गई। बौधायन के अनुसार वेश्या द्वारा दिया गया भोजन निविद्ध है।[12]

वाशम महोदय का यह मत भी प्रासंगिक है कि सम्प्रदायों का बाहुल्य कबायली समाज के विखण्डन के परिणामों के कारण हुआ।[13] प्राचीन जीवन पद्धति में अभ्यस्त व्यक्तियों के लिये नवीन भौतिक परिस्थितियों द्वारा लाई गयी प्राचीन जनजातीय समाज में टूटने की स्थिति में स्वयं को अनुकूल बनाना कठिन था। इस नीवन व्यवस्था ने घोर सामाजिक असमानता को जन्म दिया। ऐसे व्यक्तियों के लिये इस दुख की स्थिति में स्थायी पलायन के रूप में एक मार्ग था। साथ ही नई परिस्थितियों से उत्पन्न आर्थिक समृद्धि के कारण सन्यासियों के समूह का भरण पोषण संभव हुआ। सन्यासियों के नए सम्प्रदाय नगरों की परिधियों में रहते थे। जैसा की ज्ञात है कि बुद्ध ने अन्य किसी स्थान की अपेक्षा राजगृह और श्रावस्ती में अधिक समय व्यतीत किया और आरम्भिक तथा महत्वपूर्ण विहार राजगृह और श्रावस्ती के अतिरिक्त कौशाम्बी में स्थित थे।[14] आदी तीर्थंकर पार्श्वनाथ का संबंध भी शहरों से बताया गया है।

विभिन्न मतों और सम्प्रदायों से सम्बन्धित परिव्राजक आपस में मिलते और वार्तालाप करते थे। जैसा कि आजीवक उपाक का बुद्ध से तथा सारिपुत्र का अस्सी जी से धर्म और शास्त्र

सम्बन्धी प्रश्न पुछे गये। इन सन्दर्भों से स्पष्ट होता है कि प्रत्येक सम्प्रदाय का अपना अलग सिद्धांत और उसका एक नेता होता था। प्रायः समान आचार विचार वाले क्षमण परिव्राजक अपना–अपना एक अलग गण बना कर रहते थे और अनुमान होता है कि यदा कदा ये नेता या गणाचार्य अपने सामान आचार विचार वाले शिष्यों को भी जो किन्चित अधिक तीक्ष्ण बुद्धि या विशिष्ट उपलब्धियों से युक्त होते थे। नेतृत्व में साझेदारी देकर उन्हें अपने पक्ष में बनाये रखना चाहते थे। आलार–कलाम और उद्दक रामपुत्र द्वारा श्रमण गौतम के सम्मुख तथा संजय द्वारा lkfjiq dsl Eeqxkiztrq iztrko bl dsLi"V izekkgSA[15]

अतः इस युग में संघी, गणी, गणाचार्यों का सूत्रपात हो चुका था और परिव्राजकों के लिये एक नेता विशेष के सान्निध्य में दीक्षित होकर आध्यात्मक साधना में रत रहना एक परिपाटी बन गयी थी। वस्तुतः व्यवस्थित परिव्राजक संघ की स्थापना और उसके संरक्षण में आध्यात्मक चिंतन बुद्धकालीन संस्कृति की ही देन है।

संदर्भ सूची

1. शर्मा लीलाधर पर्वतीय : *भारतीय संस्कृति कोष*, पृ0सं0–**521**
2. *आपस्तम्ब धर्म सूत्र* 2, 9, 21, 13
3. गोंड दशरथ : *पालि जातक साहित्य के आधार पर बौद्ध धर्म,* पृ0सं0 169–170
4. रेउ, पंडित विश्वेश्वर नाथ : *ऋग्वेद पर ऐतिहासिक दृष्टि,* पृ0सं0–**04**
5. दीघनिकाय, ब्रह्मजाल सुत।
6. वाषम–ए–एल अद्भूत भारत, पृ0सं0–**250**
7. मजुमदार, रमेशचन्द्र : *प्राचीन भारत*, पृ0सं0–**66**
8. पाण्डेय गोविन्द चन्द्र : *बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास*, पृ0सं0–**26**
9. शर्मा, रामशरण : *प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचना*, पृ0सं0–**171**
10. वही, पृ0सं0–**178**
11. *गौतम धर्मसूत्र* XVII, 17, 1
12. वाशम, ए0एल0 : *दि हिस्ट्री एण्ड डाक्ट्रिम ऑफ द आजीविकाज,* पृ0सं0–**04**
13. दत्त, एन0 : *अर्ली मोनास्टिक बुद्धिज्म*, पृ0सं0–**147**
14. मज्झिम निकाय, महाबोधिराम कुमार *''सुत्त''*, 35 : 25, उछक
15. रामपुत्त सुत्त 35 : 26, *पासिराम सुत्त*, 36.3.10, 36.3.13